पाठ्यपुस्तकों पर हालिया विवाद नया नहीं है। अपने-आपमें यह शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यपुस्तकों के प्रवेश और उनके केन्द्रीय स्थान प्राप्त करने के इतिहास से जुड़ा है। इस बातचीत में हमारी शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यपुस्तकों के प्रवेश और उसके केन्द्रीय स्थान प्राप्त करने और साथ ही इससे जुड़ी समस्याओं पर विचार किया गया है। यह बातचीत राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के अनुरूप बनी राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों के सैद्धान्तिक नजरिए और उनकी खासियतों से पाठकों को परिचित करवाती है।

क्यों बनती हैं पाठ्यपुस्तकें विवाद का विषय

प्रोफेसर कृष्ण कुमार से लतिका गुप्ता की बातचीत

प्रश्न : पाठ्यपुस्तक संस्कृति का भारत में जो इतिहास रहा है, उसमें आप पाठ्यपुस्तकों पर इस नए हमले को किस तरह देखते हैं?

उत्तर : हमारी शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यपुस्तक की जो केन्द्रीयता है, उसको समझने के लिए मुझे औपनिवेशिक इतिहास की खोज करने का अवसर बहुत समय पहले मिला था। सत्तर के दशक में मेरी रुचि यह समझने की हुई थी कि दुनिया में दो तरह की शिक्षा व्यवस्थाएं कैसे बनीं। एक तरफ ऐसे देश हैं जहां शिक्षक तरह-तरह की पाठ्यपुस्तकों में से ऐसी पाठ्य-सामग्री स्वयं चुनते हैं जो उनको उपयुक्त लगती है, उसके आधार पर वे अपनी कक्षा की पाठ्य-योजना बनाते हैं। दूसरी तरफ ऐसे देश हैं जहां हर विषय के लिए एक किताब लागू की जाती है, जिसे कहते हैं कि 'लगा दी जाती' है। शिक्षक के पास कोई स्वतंत्रता नहीं होती कि वह उस किताब के अलावा किसी सामग्री का समुचित प्रयोग कर सके या चाहे तो उस किताब को बिल्कुल ही न पढ़ाए। मैंने देखा कि दुनिया का इन दो तरह के देशों में यह जो बंटवारा है, वह दरअसल बड़ा सीधा-सा है। जिन देशों को हम आज विकसित देश कहते हैं उनमें से अधिकांश देश वे हैं जिन्होंने दूसरे देशों को उपनिवेश बनाया और आज के अमीर देश हैं। उन देशों में शिक्षक को यह स्वतंत्रता प्राप्त है कि अपने मन से पाठ्य-सामग्री चुनें। उन देशों में और भी चीजें हैं जैसे कि बच्चे पाठ्यपुस्तक नहीं खरीदते, स्कूल खरीदता है। स्कूल की हर कक्षा में कई प्रकार की पाठ्यपुस्तकें, कई तरह की सामग्री रहती है और जिसका इस्तेमाल शिक्षक अपनी सुविधा से, अपनी समझ से करता है और इसके लिए उसका प्रशिक्षण भी ऐसा होता है कि वह ऐसा कर सके। दूसरी तरफ ऐसे देश हैं जहां पर एक पाठ्यपुस्तक सरकार के द्वारा लागू की जाती है। मैंने पाया कि ये सारे देश वे हैं जो कभी उपनिवेश बने थे। सन् उन्नीस सौ सतेत्तर (1977) की मुझे बहुत स्पष्ट याद है। मुझे लगा कि जैसे कोई बड़ी खोज मैंने कर ली है। उसके बाद मुझे कई बार इस विषय पर काम करने का मौका मिला और धीरे-धीरे मुझे यह समझ में आया कि दरअसल पाठ्यपुस्तक और शासन या राज्य; इन दोनों के बीच बहुत गहरा संबंध है और यह हमारे जैसे समाज में उसके उपनिवेश

बनने की प्रक्रिया में छुपा हुआ है।

प्रश्न : मतलब हमारे देश में औपनिवेशिक राज्य और पाठ्यपुस्तक के बीच में संबंध है और यह संबंध ऐसे देश में नहीं होगा जो उपनिवेश नहीं थे?

उत्तर : हां, और इस संबंध में छिपा हुआ है शिक्षक की बौद्धिक स्वायत्ता के विनाश का इतिहास। आपने भी इस विषय पर काम किया है, आपको मालूम है कि अट्ठारहवीं शताब्दी में उपनिवेश बनने से पहले भारत की शिक्षा का पाठ्यक्रम बहुत सीमित था जो बच्चों की स्थानीय जरूरतों के गिर्द मंडराता था। जैसे कि, एडम गिलपफोर्ट या परोमेश आचार्य के कामों से पता चलता है लेकिन जो भी था शिक्षक उसको अपने ढंग से पढ़ाने के लिए स्वतंत्र था। शिक्षक स्वयं सामग्री ढूंढ़ता था। शिक्षक की स्वतंत्रता उपनिवेश काल में समाप्त हुई। जैसा कि काजी शहीदुल्लाह, परोमेश आचार्य, सुरेश चन्द शुक्ला; इन तमाम लोगों का काम यही दिखाता है। *'गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद'* में जो काम मैंने किया है उसमें भी इसको चिह्नित किया गया है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जो नई व्यवस्था बनी, जिसे हम आधुनिक शिक्षा व्यवस्था कहते हैं, उसका एक सबसे बड़ा, महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि शिक्षक शासन व्यवस्था का सबसे निचले स्तर का एक मातहत बन गया। वह एक कर्मचारी बन गया और उसकी बौद्धिक स्वायत्ता समाप्त हो गई। उसको काम करने के लिए सामग्री दी जाने लगी और वह पूरी तरह से उस पर निर्भर हो गया। खुद भी उसे कोई अपेक्षा नहीं रही।

प्रश्न : यानी सामग्री चुनने की स्वायत्ता खत्म हो गई। शिक्षक को सामग्री दी जाने लगी और यही वह सामग्री है जहां शिक्षा और राज्य का टकराव होता रहता है?

उत्तर : जो सामग्री लागू की गई वह पाठ्यपुस्तक कहलाने लगी। वह सामग्री राज्य की दृष्टि और नीति का एक माध्यम बन गई जिसको सामान्य बच्चे तक पहुंचाना शिक्षक का काम हो गया। इसके साथ ही विवादों का क्रम शुरू हो गया। अगर आप डेढ़ सौ सालों का इतिहास देखें तो लगातार यह प्रश्न उठता रहा है कि किसने पाठ्यपुस्तक लिखी है। अंग्रेजों के शासन काल में भी यह बड़ा भारी प्रश्न था कि हम किससे पाठ्यपुस्तक लिखवाएं। इस प्रक्रिया में बहुत-सी इस तरह की घटनाएं घटती थीं कि फलाने लेखक से क्यों लिखवाई गई, ढिमाके से क्यों नहीं लिखवाई गई। जब निजी प्रकाशकों का इसमें बोलबाला शुरू हुआ तो उनकी दुनिया में भी ये घटनाएं लगातार घटने लगीं कि कौन से निजी प्रकाशक की पुस्तक सरकार ने लागू की है और किसकी लागू नहीं की है। इस तरह भ्रष्टाचार इस प्रक्रिया का लगातार एक अंग बना रहा।

प्रश्न : एनसीईआरटी राज्य के द्वारा ही बनाई गई एक परिषद् है और पाठ्यपुस्तक बनाने के काम को इसमें तवज्जो दी जाती है।

उत्तर : देखिए, इस समय आप इतिहास में एक लम्बी कूद लगा रही हैं। भारत का जो औपनिवेशिक इतिहास है वह सन् उन्नीस सौ सैंतालिस के बाद भी चलता

कृष्ण कुमार

जाने-माने शिक्षाविद्, केन्द्रीय शिक्षण संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

लतिका गुप्ता

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की कई परियोजनाओं में सक्रिय भूमिका निभाई है। लड़कियों की अस्मिता के संदर्भ में धर्म और लिंग भाव के संबंधों पर शोध किया है। एनसीईआरटी से प्रकाशित क्रमिक पुस्तकमाला 'बरखा' की समन्वयक रही हैं।

रहा। पचास के दशक में भी भारत में अनेक ताकतवर निजी प्रकाशकों का बोलबाला था। वे कई तरीकों से अधिकारियों का ध्यान अपनी ओर खींचा करते थे कि उनकी पाठ्यपुस्तक लगाई जाए। अलग-अलग राज्यों में इसकी अनेक अलग-अलग कहानियां हैं कि कैसे निजी प्रकाशक अधिकारियों तक पहुंचते थे। इन सब स्थितियों से उबरने के लिए विभिन्न समितियों ने कई सिफारिशें कीं जिनके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे एक प्रक्रिया शुरू हुई जिसको आप 'पाठ्यपुस्तकों का राष्ट्रीयकरण' कह सकती हैं। यानी पाठ्यपुस्तकों के लिए राज्यों में पाठ्यपुस्तक निगम बनाया जाना शुरू हुआ। ये सारी प्रक्रियाएं साठ के दशक की हैं और उसी दौरान 1961 में एनसीईआरटी भी बनी। हालांकि, एनसीईआरटी से सीधे-सीधे ये अपेक्षा नहीं थी कि वह पाठ्यपुस्तक बनाएगी। एनसीईआरटी से तो अपेक्षा यह थी कि दुनिया के विकसित देशों की तरह अनेक तरह की पाठ्यसामग्री बनाएगी। एनसीईआरटी आज भी बनाती है और उससे उस समय अपेक्षा भी यही थी कि वह पाठ्यपुस्तक की जकड़ को खोलेगी। विज्ञान के क्षेत्र में नए औजार बनाना, तरह-तरह की सहयोगी सामग्री बनाना, बच्चों के लिए पत्रिकाएं छापना भी एनसीईआरटी के काम में शामिल था। यह उसका उद्देश्य कतई नहीं था कि वह कोई एक पाठ्यपुस्तक बनाए।

एनसीईआरटी से सीधे-सीधे ये अपेक्षा नहीं थी कि वह पाठ्यपुस्तक बनाएगी। एनसीईआरटी से तो अपेक्षा यह थी कि दुनिया के विकसित देशों की तरह अनेक तरह की पाठ्यसामग्री बनाएगी। एनसीईआरटी आज भी बनाती है और उससे उस समय अपेक्षा भी यही थी कि वह पाठ्यपुस्तक की जकड़ को खोलेगी।

प्रश्न : पाठ्यपुस्तक बनाना एनसीईआरटी का उद्देश्य कैसे बन गया?

उत्तर : यह एक बहुत बड़ा सवाल है। एनसीईआरटी ने जब पहली बार साठ के दशक में पाठ्यपुस्तकें बनाईं तो साफ-साफ था कि वे केवल मिसाल के तौर पर छापी जाएंगी और बहुत ही सीमित संख्या में छापी जाएंगी। उनकी मदद से फिर राज्यों को अपनी-अपनी पाठ्यपुस्तकें बनानी थीं। कल्पना थी कि राज्य इनको देखेंगे, सामग्री चुनेंगे, उनमें अपनी सामग्री जोड़ेंगे और एक गतिशील ढंग से पूरी प्रक्रिया धीरे-धीरे खुलेगी। लेकिन, जैसा कि हमारी व्यवस्था की जो प्रवृत्ति उपनिवेशकाल में स्थिर हो गई थी एनसीईआरटी की किताबें एक स्थिर वस्तु बन गईं।

प्रश्न : हर प्रक्रिया में एनसीईआरटी की किताब को लागू करने का विचार लगातार सत्तर के दशक में सघन होता गया। राज्य सरकारों में राज्य परिषद् भी हैं, उन्होंने किताबें नहीं बनाईं?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है कि उन्होंने नहीं बनाईं। उन्होंने भी प्राथमिक और उच्च प्राथमिक स्तर पर कई जगह किताबें बनाईं और आज भी बना रहे हैं। लेकिन एससीईआरटी की भी स्थिति उन राज्यों में लगभग वही है जो एनसीईआरटी की राष्ट्रीय स्तर पर है। हां, एक तरह से ये वैधानिक संस्थाएं नहीं हैं। इनकी जिम्मेदारी नैतिक ही है। इनकी बात सुनी जाए, न सुनी जाए; यह राज्यों पर निर्भर करता है। कई राज्यों में आप जाइए तो एससीईआरटी और बोर्ड के बीच में निरंतर झगड़ा चलता रहता है। जैसे कि, बंगाल में एससीईआरटी है लेकिन बोर्ड ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है। जब मैं एनसीईआरटी में था तब उत्तर-पूर्व के कई राज्यों से तो बकायदे मुझे लिखकर सूचित किया जाता था कि आप समझाइए हमारी सरकार को कि वह एससीईआरटी को तवज्जो दे और बजाय बोर्ड की सामग्री के उसकी सामग्री का इस्तेमाल करे। कई राज्यों में बोर्ड सामग्री बनवाते हैं या खुद ही बनाते हैं।

प्रश्न : सत्तर के दशक में एनसीईआरटी से ये उम्मीद थी कि वह एक मिसाल के लिए किताबें बनाएगी, पाठ्यचर्या बनाएगी। लेकिन 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में जब शिक्षा की एक राष्ट्रीय व्यवस्था

की बात की गई तो एक तरह से एनसीईआरटी द्वारा बनाई गई पाठ्यचर्या और किताबों को एक नई हैसियत मिली।

उत्तर : आप पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक इन दो शब्दों में एक प्रकार का घालमेल कर रही हैं। इनके बीच में एक और शब्द है जिसका नाम है पाठ्यक्रम। इन तीनों का संबंध कभी हमारी शिक्षा व्यवस्था में न तो समझा गया है और न ही किसी राज्य ने या केन्द्र के सीबीएसई जैसे बोर्ड ने इस संबंध को समझने की कोई ईमानदार कोशिश की है। जब राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 बन रही थी तो हम सब लोगों को इस बात की सबसे ज्यादा चिंता थी, इसीलिए एक राष्ट्रीय फोकस समूह इसी विषय पर स्थापित किया गया था कि वह पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक के संबंध पर प्रकाश डाले। श्री रोहित धनकर की अध्यक्षता में इस फोकस समूह ने अपनी बहुत अच्छी रिपोर्ट दी है और जो प्रकाशित भी हुई है। जिस राष्ट्रीय शिक्षा नीति की आप बात कर रही हैं उस नीति में सिर्फ इतना लिखा है कि एक ऐसी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या बनाई जाए जिसमें भारत जैसे विविधता वाले देश के लिए दो तरह के तत्व आ सकें। एक तो वे जिन्हें आप उसके मूल तत्व कहेंगे और जिनकी जरूरत पूरे देश को है और कुछ ऐसे हिस्से हैं जिनको राज्य अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार इस्तेमाल कर सकें। शिक्षा नीति में जो इस तरह की टिप्पणी की गई है उसी के आधार पर आगे चलकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा बननी शुरू हुई।

2005 की पाठ्यचर्या रूपरेखा में भी इस विषय पर कई जगह ध्यान दिया गया है कि पाठ्यचर्या का आशय ही यह है कि वह एक ऐसा ढांचा पेश करे जो सबसे पहले तो लचीला हो। प्रोफेसर यशपाल ने अपनी भूमिका में भी सबसे ज्यादा इसी पर जोर दिया है कि प्रश्न इस बात का नहीं है कि आपको बच्चे को क्या पढ़ाना है बल्कि प्रश्न यह है कि बच्चे की जो नैसर्गिक या स्वाभाविक क्षमताएं हैं उनका विकास करने के लिए किस तरह के अनुभव देने हैं। पाठ्यचर्या का काम इस तरह के अनुभवों को एक तरह से सूचीबद्ध करना है। उनको जब आप पाठ्यक्रम के स्तर पर ले जाएं तो फिर आपको हर बच्चे की आयु को ध्यान में रखकर उसको क्रमबद्ध करना है कि किस आयु में किसी विषय की कोई सामग्री कितनी गहराई तक जाए और किस अनुभव की मदद से उसको बच्चे के संज्ञान में लाया जाए। उसके बाद फिर तीसरी चीज है पाठ्यपुस्तक जो कि बहुत स्पष्ट रूप से एक संसाधन है। उसके अलावा अनेक और संसाधन हैं। 2005 की रूपरेखा में पाठ्यचर्या के क्षेत्र नाम से पूरा एक अध्याय है जिसमें लिखा है कि स्कूल के पुस्तकालय से लेकर बगीचे के पेड़-पौधे, वृक्ष, जानवर, बच्चे के गली-मोहल्ले के अनुभवों तक में बच्चे के पाठ्यक्रम को पूरा करने के संसाधन छिपे हुए हैं। उन्हीं में से एक संसाधन है पाठ्यपुस्तक जिसे एकमात्र संसाधन के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षक में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह उस संसाधन को केवल एक स्रोत के रूप में देखे और अन्य स्रोतों से सामग्री जुटाए। इसी आधार पर ये नई पाठ्यपुस्तकें शिक्षक से साफ-साफ कहती हैं कि केवल इस पुस्तक पर निर्भर मत रहिए। इस पुस्तक में केवल संकेत दिए गए हैं कि आप किस तरह की गतिविधियां कराएं, किस तरह के स्रोत जुटाएं, कहां से जुटाएं, बच्चों के अनुभवों को कैसे स्रोत बनाएं। प्राथमिक कक्षाओं के लिए पर्यावरण अध्ययन की हमारी जो आसपास शृंखला है उसमें लिखा है कि इस पुस्तक को खत्म करने पर ज्यादा जोर न दें। आप खत्म कर पाते हैं या नहीं इससे फर्क नहीं पड़ता। कक्षा नौ की इतिहास की पुस्तक कहती है कि आप कोई पांच अध्याय पढ़ा दीजिए। ये पुस्तकें पूरी पढ़ाने के लिए नहीं हैं। यशपाल के शब्दों में यह 'समझ का चस्का' पैदा करने के लिए एक शुरुआत है और वह चस्का बच्चे में शिक्षक की मदद से पैदा होगा। उसमें पैदा हुई इच्छा ज्ञान के अन्य स्रोतों को ढूंढ़ेगी।

प्रश्न : पिछली पाठ्यपुस्तकों के मुकाबले ये जो नई पाठ्यपुस्तकें हैं, ये बहुत ही अलग तरह की हैं। इनमें 'समझ का चस्का' पैदा करने या बच्चे में जो समझ की भूख होती है उसके लिए कुछ सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

इसका मतलब है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में जो बिंदु उठाए गए हैं कि कक्षा में पढ़ाई कैसी हो, उसके लिए ये पाठ्यपुस्तकें एक सामग्री हैं और एक मिसाल प्रस्तुत करती हैं।

उत्तर : एक तरह से हां। ये शिक्षक के लिए एक नए तरह का संकेत हैं। ये पुस्तकें राज्यों के लिए तो निश्चित रूप से एक तरह की मिसाल हैं कि इस तरह से वे सामग्री विकसित कर सकते हैं। अभी तक तो यह माना जाता था कि पाठ्यपुस्तक ज्ञान या सूचनाओं का एक भंडार है और शिक्षणशास्त्र की बात तो तब आती है जब शिक्षक उस भंडार को बच्चों के पास लेकर जाता है। इसीलिए जो पुरानी पाठ्यपुस्तकें थीं, उनमें इस बात का ध्यान ही नहीं रखा जाता था कि बच्चे से संवाद स्थापित किया जाए। संवाद का काम शिक्षक के लिए छोड़ दिया जाता था। इस वजह से पुरानी पुस्तकें बोझिल भी थीं, उनमें सूचनाओं की भरमार थी और बच्चे स्वयं उनमें कोई रुचि नहीं ले पाते थे। बच्चों और माता-पिताओं को पुरानी पुस्तकें देखकर डर लगता था। पाठ्यपुस्तक शब्द का औपनिवेशिक काल से ही अर्थ है कि एक ऐसी पुस्तक जो आसानी से न समझ में आए। मतलब हिन्दी में 'पाठ्यपुस्तक' नाम दरअसल इस बात को छिपाने के लिए है कि पारंपरिक रूप से पाठ्यपुस्तक का मतलब है वह पुस्तक जो अपाठ्य है। इसलिए उसको पाठ्यपुस्तक कहना पड़ रहा है वरना पुस्तक का तो अर्थ होता ही है कि वह पाठ्य जरूर हो। ये जो नई किताबें हैं, इनमें यह कोशिश की गई है कि शिक्षणशास्त्रीय तत्वों का लाभ उठाकर पाठ्यपुस्तक को ही इस तरह से तैयार किया जाए कि वे बच्चों के लिए सहज रूप से आकर्षक बन सकें और बच्चे और शिक्षक के बीच में एक तरह का पुल बन जाएं। इनकी संकल्पना ही एक नई तरह से की गई है। प्रश्न यह है कि शिक्षणशास्त्रीय पहलू क्या हैं?

अभी तक तो यह माना जाता था कि पाठ्यपुस्तक ज्ञान या सूचनाओं का एक भंडार है और शिक्षणशास्त्र की बात तो तब आती है जब शिक्षक उस भंडार को बच्चों के पास लेकर जाता है। इसीलिए जो पुरानी पाठ्यपुस्तकें थीं, उनमें इस बात का ध्यान ही नहीं रखा जाता था कि बच्चे से संवाद स्थापित किया जाए। संवाद का काम शिक्षक के लिए छोड़ दिया जाता था। इस वजह से पुरानी पुस्तकें बोझिल भी थीं, उनमें सूचनाओं की भरमार थी और बच्चे स्वयं उनमें कोई रुचि नहीं ले पाते थे।

पहला तो है कि बच्चे आयु और मनोवैज्ञानिक विकास के क्रम में जिन चरणों से गुजरते हैं उनको ध्यान में रखकर लगभग हर एक अवधारणा को किसी अनुभव के दायरे में लाकर रखा जाए। किसी न किसी तरह उसको एक ऐसे काम से जोड़ा जाए जिसे कक्षा के स्तर पर गतिविधि बनाया जा सके। भले ही वह बहस की गतिविधि हो, चर्चा हो या किसी हाथ से काम करने की हो या कहीं जाकर कुछ देखने की हो। इस आधार पर सोचा गया कि पाठ्यपुस्तक में बहुत सारी जानकारी न दी जाए। जानकारी देने की जगह बच्चों में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा पैदा की जाए और विभिन्न स्रोत सुझाए जाएं। फिर ऐसी तरकीबें की गईं जैसे, बच्चों को चित्र बहुत पसंद हैं तो चित्रों की मदद से बहुत-सी चीजें समझने की संभावना पैदा की जाए। चित्र में क्या-क्या हो रहा है, अगर वह तस्वीर है तो कैसे देखें, अगर वह हाथ से बनाया गया चित्र या व्यंग्य चित्र है तो कैसे देखें। चित्र अपने-आपमें एक स्रोत है और बच्चों के लिए बड़ा ग्राह्य होता है। अभ्यासों को इस तरह रचा गया कि वे चित्र और आलेख के बीच में एक तरह के पुल का काम करें। अभ्यासों में भी ये कोशिश की गई कि वे रटे-रटाए उत्तरों को सामने लाने वाले प्रश्न न हों बल्कि

ऐसे हों जो सचमुच ही बच्चे की चिंतन क्षमता को बार-बार उपयोग में लाने का मौका दें।

2005 की पाठ्यचर्या का उद्देश्य बड़ा स्पष्ट है कि हम बच्चों को चिंतनशील नागरिक बनाना चाहते हैं। हर मुद्दे पर सोचने, प्रश्न उठाने, अपने उत्तर ढूंढ़ने की क्षमता, अपने निर्णय तक पहुंचने की क्षमता विकसित कर सकें। ऐसे बच्चों के लिए जरूरी है कि बने-बनाए उत्तरों में उलझा देने वाली सामग्री न हो बल्कि प्रश्न ऐसे हों, अभ्यास क्रम ऐसे हों, सामग्री इस प्रकार लिखी जाए जो बच्चे को हर स्तर पर यह सोचने का मौका दे कि ज्ञान तो वह है जिसे वह खुद सामने लाएगा। ज्ञान अंत में बनना कहां है? ज्ञान बनना है बच्चे के अपने मानस में और मानस के विकास का अर्थ ही है कि वह ज्ञान को बनाते हुए विकसित होता है। पहले से जो बना हुआ ज्ञान है अगर उसको पाकर ही मानस का विकास हो जाए तो फिर संसार में कोई अज्ञानी ही न बचे क्योंकि सामग्री तो सब उपलब्ध है। इसलिए नई पुस्तकों में शिक्षणशास्त्रीय दृष्टिकोण से ऐसे आलेखों, चित्रों, अभ्यासों की रचना की गई है जो बच्चों से संवाद करते हों और इसलिए शिक्षक की भूमिका इस मायने में पूरी तरह बदल जाती है। पुस्तकों में जो सवाल उठाए गए हैं उन सवालों से शिक्षक कक्षा में प्रश्नों का रहस्यमय वातावरण उत्पन्न करे और गतिविधियां आयोजित करे। वह देखे कि अलग-अलग पृष्ठभूमियों के बच्चे, अपने-अपने घरों, मोहल्लों, अनुभवों से इस विषय को जोड़ पा रहे हैं या नहीं और इसमें बच्चों को अपने निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए प्रोत्साहित करे। शिक्षक उन निष्कर्षों में विविधता लाने का प्रयास करे। ये सारे शिक्षणशास्त्रीय तत्व हैं जो इन पुस्तकों को भिन्न बनाते हैं। पहले की पाठ्यपुस्तकों को या तो शिक्षक केवल पढ़के सुना देता था या उसी को थोड़ा विस्तार दे देता था या फिर डाकिये की तरह, एक चिट्ठी की तरह पहुंचा देने की कोशिश करता था।

पाठ्यपुस्तक अपनी बात लिखने की जगह नहीं है। पाठ्यपुस्तक बहुत जिम्मेदारी का काम है जिसके जरिए हम मानवता द्वारा प्राचीन काल से आज तक विकसित की गई ज्ञान परंपराओं में बच्चे को प्रवेश दिलाते हैं। यह ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता जो एक लेखक दे दे और उस पर उसकी शैली और उसके ज्ञान का ठप्पा लग जाए।

प्रश्न : इसी से जुड़ा हुआ मुद्दा है कि पहले पाठ्यपुस्तक लेखक होते थे जबकि इन पुस्तकों में पाठ्यपुस्तक विकास समितियां बनाई गईं। लेखक से विकास समिति की यात्रा के बारे में आप बताएं। समितियां क्यों बनाई गईं? क्यों एक पाठ्यपुस्तक के लिए पन्द्रह-बीस लोग जरूरी समझे गए?

उत्तर : आपने यह बहुत अच्छा सवाल उठाया है। हमें एक तरह से दार्शनिक स्तर पर सोचना होगा कि क्या पाठ्यपुस्तक को किसी पुस्तक की तरह लिखा जाना चाहिए? अगर आप सिर्फ पुस्तक शब्द लें तो जो व्यक्ति उसको लिखता है वह अपनी बात लिखता है। पाठ्यपुस्तक अपनी बात लिखने की जगह नहीं है। पाठ्यपुस्तक बहुत जिम्मेदारी का काम है जिसके जरिए हम मानवता द्वारा प्राचीन काल से आज तक विकसित की गई ज्ञान परंपराओं में बच्चे को प्रवेश दिलाते हैं। यह ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता जो एक लेखक दे दे और उस पर उसकी शैली और उसके ज्ञान का ठप्पा लग जाए। पहले की किताबों में सारी समस्या ही यह रही है कि वे किसी एक लेखक द्वारा ही लिखी जाती थीं। इसलिए 2005 में कोशिश यह की गई कि नई पुस्तकें एक विस्तृत विमर्श के जरिए बनें और विमर्श हो विशेषज्ञों और शिक्षाशास्त्र समझने वाले लोगों में; बच्चों के बीच काम करने वाले लोगों में और शिक्षकों के बीच विमर्श हो। इसलिए पाठ्यपुस्तक समितियों में इतनी विविधता रखी गई। प्रयास यह था कि कैसे अनेक दृष्टिकोण आएं, कैसे किसी बिंदु को संवाद की शैली में एक पुस्तक का आकार दें यानी उसका विकास करें। इसलिए एनसीईआरटी ने इन तमाम समितियों को पाठ्यपुस्तक विकास समिति का नाम दिया। यहां विकास शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह लेखन नहीं है क्योंकि आज भी कहा जा रहा है कि किन्होंने लिखीं हैं ये किताबें! लिखना तो अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। यहां संप्रेषण एक ज्यादा गहरे अर्थ

में है कि हमारे कई विशेषज्ञों, शिक्षकों और कार्यकर्ताओं के बीच बहस हो कि हमें मुद्दों को बच्चों के बीच ग्राह्य बनाना है तो कैसे बनाएं। उनके बीच की बहस से उन आलेखों का विकास हुआ, चित्रों का विकास हुआ, अभ्यासों का विकास हुआ जिन्होंने अन्ततः पाठ्य-सामग्री का रूप लेकर पाठ्यपुस्तकों में प्रवेश किया।

प्रश्न : शिक्षाशास्त्रीय समझ में आप किन चीजों को शामिल करते हैं?

उत्तर : बच्चों के मनोविज्ञान को निश्चित रूप से शामिल करते हैं। उसके अलावा हम शामिल करते हैं बच्चों की सीखने की प्रवृत्तियों को और बच्चों की सामाजिक पृष्ठभूमियों को। भारत जैसे विविधता वाले देश में बच्चे की सामाजिक पृष्ठभूमि, उसकी भौगोलिक, उसकी पर्यावरणीय पृष्ठभूमि शिक्षा के लिए महत्त्व रखती है। इसके अलावा समाज में जो समस्याग्रस्त विभाजन हैं जैसे, लड़के और लड़की का, यह शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से बहुत बड़ी चुनौती है। हम जिस तरह से बोलते, लिखते और पढ़ाते हैं वह पारंपरिक रूप से लड़कों के लिए तो ग्राह्य रहा है पर लड़कियां उससे नहीं जुड़ पातीं। इस कारण से बहुत बड़ी संख्या में हमारी लड़कियां देर-सवेर या तो शिक्षा से अलग हो जाती हैं या असफल हो जाती हैं या फिर उनको अपनी जितनी ऊर्जा और सर्जना का विकास करना चाहिए; उसे नहीं कर पातीं। इसी तरह से जाति, वर्ग का मसला है। गांव और शहर का मसला है कि हम जिस तरह के दृष्टांत चुनते हैं, वे शहर के बच्चे के लिए तो ग्राह्य हैं पर गांव के बच्चे के लिए ग्राह्य नहीं हैं। इसलिए पुस्तक के विकास में ऐसे शिक्षक हों, कार्यकर्ता हों, शिक्षणशास्त्र के ऐसे लोग हों जिनको थोड़ी-बहुत गांव की भी समझ हो। अब जैसे चित्र की समझ है, यह भी एक शिक्षणशास्त्रीय बिंदु है। आलेख की समझ हो लेकिन चित्र के जरिए जो संप्रेषण होता है, इसकी समझ रखना भी शिक्षणशास्त्र का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है हालांकि इसमें मौलिक समझ रखने वाले बहुत कम लोग हुए हैं। फिर रहा अभ्यासों का मसला। बच्चे से कैसे पूछें कोई प्रश्न? कि वह सिर्फ अभिधा का न हो बल्कि व्यंजना का भी हो, लक्षणा का भी हो और उत्तर पाने की प्रक्रिया में उसकी इन तमाम क्षमताओं का विकास हो। प्रश्न तो बच्चे को कुरेदने के लिए हैं, उसको उत्प्रेरित करने का एक साधन भर हैं। यह जांचने का साधन नहीं हैं कि बच्चे को पता है या नहीं। प्रश्न ऐसा हो जो अगर बच्चे को पता नहीं भी है तो उसको पता लगाने के लिए प्रवृत्त करे। इन तमाम बिन्दुओं, शिक्षणशास्त्रीय बिंदुओं को भी ऐसा ही व्यक्ति ला सकता है जो बच्चों को थोड़ा-बहुत समझता हो, उनके बीच उठता-बैठता हो, उन्हें कहानियां सुनाता हो यानी शिक्षक। तो ये तमाम चीजें शिक्षणशास्त्रीय बिंदु हैं जिन्हें पाठ्यपुस्तक समितियों ने किसी न किसी प्रकार से समाहित करने की कोशिश की है और यह भी प्रयास किया है कि बहुत से और लोगों और संस्थाओं की भी सलाह लें। हर एक समिति ने ऐसा किया। अपनी सामग्री को दूसरों से दिखवाया, उनसे बांटा, उसके बाद जब राष्ट्रीय निगरानी समिति के सामने ये पुस्तकें गईं, जिसे मानव संसाधन मंत्रालय ने बनाया था, उसमें भी ऐसे अनेक लोग थे जो शिक्षक थे, अधिकारी थे, विशेषज्ञ थे, गैर-सरकारी संगठनों और मीडिया से जुड़े हुए थे। उन्होंने भी एक-एक लाइन, एक-एक चित्र, एक-एक अभ्यास, एक-एक अध्याय को ध्यान से पढ़कर ढेरों प्रश्न पूछे।

प्रश्न तो बच्चे को कुरेदने के लिए हैं, उसको उत्प्रेरित करने का एक साधन भर हैं। यह जांचने का साधन नहीं हैं कि बच्चे को पता है या नहीं। प्रश्न ऐसा हो जो अगर बच्चे को पता नहीं भी है तो उसको पता लगाने के लिए प्रवृत्त करे।

हर चित्र, हर अभ्यास, हर आलेख पर निगरानी समिति ने प्रश्न उठाए। उनके सदस्यों की अनुशंसाओं के आधार पर परिवर्तन किए गए। तमाम चीजें अंतिम रूप लेने से पहले बहुत विस्तृत विमर्श से गुजरी

हैं। यह मामला किसी सामग्री को लिख देने का नहीं है। यह मामला ऐसी सामग्री को जुटाने का है जिस पर हम खड़े होकर कह सकें कि जितनी बेहतर यह हो सकती है उतनी बेहतर बनाई गई है और इसमें सबकी राय ली गई है।

प्रश्न : इसी मुद्दे से जुड़ा एक सवाल है कि नौवीं कक्षा में जो बच्चा आता है वह बारह से चौदह साल के बीच का होता है। शिक्षाशास्त्रीय नजरिए से वह बच्चा उसके पहले की उम्र के बच्चों से किस तरह अलग हो जाता है?

उत्तर : इसमें मनोविज्ञान तो बड़ा साफ कहता है, जिसके लिए दुर्भाग्यवश हिन्दी में कोई और शब्द नहीं है, कि 'फॉर्मल विचार' की क्षमता आ जाती है। यह संज्ञा प्याजे ने दी है। यह दरअसल अमूर्त चिंतन की क्षमता है जो तेरह-चौदह साल की आयु में विकसित होने की स्थिति में होती है और इसलिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण दौर होता है। दूसरी तरफ ये किशोरावस्था का दौर भी है जिसमें बच्चा एक बहुत बड़ी भावनात्मक संक्राति से गुजरता है। वह बड़ों की दुनिया को चुनौती देने की मनोदशा में आ जाता है। एक तरफ उसमें यह आत्मविश्वास पैदा होता है कि मैं इस दुनिया को समझ सकता हूं क्योंकि वह अमूर्त चिंतन करने लगता है। दूसरी तरफ उसमें बनी-बनाई दुनिया के प्रति एक आक्रोश उत्पन्न होता है और उस आक्रोश को अगर आप पूरी तरह अनदेखा कर दें तो आप किशोर के मन तक पहुंच ही नहीं सकते। आपने उसका जवाब अनदेखा कर दिया तो वह आपको अनदेखा कर देगा। अक्सर हम देखते हैं कि परिवारों और स्कूलों में किशोरों और बड़ों के बीच में इस तरह का एक बहुत बड़ा अंतर आ जाता है। शिक्षा वहां विफल होनी शुरू हो जाती है। इसलिए बहुत जरूरी है कि आठवीं, नौवीं के बाद की शिक्षा में किशोर मनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को ध्यान में रखकर चला जाए।

किशोर मन एक तरह का समीक्षक होता है जो कि दुनिया के अधूरेपन को समझना चाहता है, उसको चुनौती देना चाहता है क्योंकि उनके मन में यह अरमान होता है कि हम बेहतर दुनिया बना सकते हैं। उसको यह मौका देना दरअसल शिक्षा का काम है कि एक बेहतर दुनिया बनाने के उसके सपने को गंभीरता से ले और उसको एक वजूद और आत्मविश्वास दे कि हां, तुम बना सकते हो, बनाओ। शिक्षा उसको औजार दे कि इस दुनिया को बनाने के लिए जो बौद्धिक औजार चाहिएं उन्हें पिछली पीढ़ी तुम्हें सौंपकर जाएगी। इसी किशोरमन के लिए किसी भी पाठ्यचर्या की रचना करना पूरी दुनिया में बहुत ही बौद्धिक उत्तेजना और चुनौती से भरा हुआ काम माना जाता है और बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिकों ने इसमें रुचि ली है। जैसे कि अमेरिका में बहुत बड़ी परियोजना ब्रूनर की अध्यक्षता में चलाई गई थी- 'ए कोर्स ऑफ मैन'। इसे साठ-सत्तर के दशक में तैयार किया गया जिसके जरिए कोशिश की गई थी कि मानवता जिन संकटों से आज गुजर रही है जैसे आणविक शस्त्रों से बने हुए संकट, राजनैतिक ध्रुवीकरण के संकट और पर्यावरण के संकट; इनको कैसे किशोर मन में लाएं कि उनके मन में दुनिया के प्रति निराशा पैदा न हो। बल्कि, एक तरह का इत्मीनान और इरादा पैदा हो कि हम दुनिया को सुधार कर रहेंगे। दुनिया में हर जगह यह एक बहुत ही रोचक उम्र होती है जब शिक्षा की एक बड़ी चुनौती पेश आती है।

प्रश्न : एक तरफ यह बात है कि जो सामने है उसकी कमियों, चुनौतियों और अन्तर्विरोधों को समझना और खुद महसूस करना कि हम स्थिति को बदल सकते हैं और एक पूर्ण दुनिया बना सकते हैं। लोकतंत्र में भी ये दो बातें गहरे समाए हुए हैं कि अंतर्विरोधों को पहचानना और बदलने के बारे में सोचना। लोकतंत्र और किशोर मन में तो यह गहरी समानता है।

उत्तर : आपने बहुत ही मौलिक विचार दिया है कि किशोर की दृष्टि से देखें तो लोकतंत्र उसके ही मानस

को व्यक्त करने वाला या उसको ही प्रतिबिम्बित करने वाला एक बहुत बड़ा वैचारिक दर्पण है। आपने लोकतंत्र की जो बात कही है वह बहुत ही वाजिब है। देखिए, लोकतंत्र भी दर्शन की दृष्टि से एक बहुत ही संश्लिष्ट और विकसित किस्म का विचार है। इसका नाम ही है लोक से चलने वाला तंत्र। यह एक ऐसा तंत्र है जिसको कोई राजा नहीं चला रहा है या जिसको कोई ताकतवर आदमी नहीं चला रहा है बल्कि, लोक में ही इसकी व्याप्ति है। अब लोक क्या है? लोक जाहिर है कि बहुत बड़ी संख्या में लोगों के मानस जगत के बीच पैदा होने वाली एक प्रकार की समग्रता और समरसता है। आप बिल्कुल ठीक कह रही हैं कि जो बात हम अभी किशोर मन के बारे में कह रहे थे वह लोकतंत्र पर और भी ज्यादा गहराई से लागू होती है कि लोकतंत्र में रुचि लेना, लोकतंत्र से निराश न होना। लोकतंत्र एक ऐसा तंत्र है जो आसानी से समझ में भी नहीं आता है और चलता भी इस रफ्तार से है कि किशोर बड़ी आसानी से उससे निराश हो सकता है कि यह इतना धीमे काम क्यों करता है। एक ऐसा तंत्र भी है जो अन्तर्विरोधों से ग्रस्त रहते हुए भी आगे बढ़ता है। हमारा संविधान भी कितने तरह के अंतर्विरोधों को समेटकर एक नीति देने की कोशिश करता है। इसलिए उसमें इतने संशोधन पिछले साठ वर्षों में हुए हैं क्योंकि रह-रह कर हमें उसको एक दिशा देने लौट आना पड़ता है।

प्रश्न : लोकतंत्र एक तरह की राजनीति भी है। किशोर मन बड़ा होता हुआ व्यक्ति है। उसका मन दुनिया से जूझता है और अगर ये भावनाएं लोकतंत्र में भी दिखती हैं कि कैसा हो हमारा समाज और हमारा देश?

उत्तर : राजनीति तो लोकतंत्र का साधन है। इसी मुख्य विचार से प्रेरित होकर ही राष्ट्रीय पाठ्यचर्या ने यह अनुशंसा दी थी जिसे दरअसल पहले 1993 में यशपाल समिति ने भी दिया था कि हम जिसे नागरिक शास्त्र कहते हैं, उसे बदलना चाहिए। एक विषय के रूप में उपनिवेश काल में वह बना था जब राज्य प्रजा को सूचित करने के लिए नागरिक शास्त्र का इस्तेमाल करता था कि सरकार तुम्हारे लिए क्या-क्या कर रही है। नागरिक शास्त्र की संकल्पना मुख्यतः यही थी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 ने सिफारिश की थी कि यह संकल्पना एक गतिशील लोकतंत्र के लिए कतई उपयुक्त नहीं है। एक ऐसे विषय की रचना की जानी चाहिए जो सामाजिक और राजनैतिक जीवन को जोड़कर समझने में बच्चों की मदद करे। जिसमें वे संस्थाएं, जिनको हम राज्य की संस्थाएं कहते हैं, वे एक गतिशील सामाजिक संदर्भ में कैसे चलती हैं, इसे समझाने का प्रयास किया जा सके। आखिर, राज्य की किसी भी संस्था को एक सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में चलना है। इसलिए जैसे ही बच्चा उस सामाजिक और सांस्कृतिक जमीन पर चलना शुरू करता है उसके और समाज के बीच के अंतर्विरोध प्रकट होना शुरू हो जाते हैं। राज्य एक तरह से आगे की दृष्टि है और समाज अपने रिवाजों में और परंपराओं में स्थिर है। राज्य और समाज के बीच में निश्चित रूप से एक संघर्ष लगातार होता रहता है और खासकर हमारे जैसे समाज में जो डेढ़ सौ साल से एक बहुत बड़े मंथन से गुजर रहा है। उस मंथन से ही हमें आजादी मिली। उस मंथन से ही आजादी के बाद का काम संविधान की मदद से हुआ। यह मंथन चालू रहे, इसके लिए जरूरी था कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 की अनुशंसाओं को माना जाए कि नागरिक शास्त्र को जड़ और सूचनात्मक विषय के स्थान पर एक ऐसा गतिशील विषय बनाया जाए जो माध्यमिक कक्षाओं से उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक विद्यार्थियों को राजनीति का एक गतिशील सामाजिक संदर्भ दे।

प्रश्न : आज के किशोर, जो लोकतंत्र में तीन-चार साल में नागरिक बनने जा रहे हैं वे मनोविज्ञान की नजर से 'फॉर्मल विचार' की क्षमता पाना शुरू कर रहे हैं। तीनों चीजें एक जगह आकर मिलती हैं। जो

विषय पढ़ाए जा रहे हैं उनमें से राजनीति में हमारे आसपास के समाज में क्या हो रहा है, किस तरह से देश को चलाया जा रहा है, यह किशोरों के लिए एक उपयुक्त विषय बन जाता है।

उत्तर : जी हां, बल्कि यही पढ़ाने लायक रह जाता है। अगर हमें किशोरों का ध्यान आकर्षित करना है, रुचि जगानी है और निराशा से उनको बचाना है तो यह बड़ा जरूरी है कि उनको यह समझने का मौका मिले कि राजनीति किस तरह आकार लेती है और कैसे लोकतंत्र को आकार देती है।

प्रश्न : नई किताबों में, भाषा की किताबों में भी इस तरह के प्रयास किए गए हैं कि कहानियां या नाटक हों जिससे समाज के अंतर्विरोध सामने आएं, वे दबाए हुए मुद्दे नहीं हैं। इस तरह के अंतर्विरोधों को पहचानना और उन पर सोच पाना कि कैसे हर एक प्राणी उनमें उलझा हुआ है। इस बिंदु को सामाजिक विज्ञान की किताबों में किस तरह जगह दी गई है?

उत्तर : यह बहुत ही गंभीर और गहरा मुद्दा है। भाषा या साहित्य के स्तर पर हम ऐसे लोगों की अभिव्यक्ति से काम लेते हैं जो अभिव्यक्ति के ही विशेषज्ञ हों जैसे कि कवि या कोई महान लेखक, उपन्यासकार या कोई कहानीकार। हम उसकी अभिव्यक्ति का लाभ उठाकर ऐसे मुद्दों को छेड़ पाते हैं जैसे कि लिंग या जाति भाव या वर्गीय विषमताएं। इनको हमें खुद अभिव्यक्त नहीं करना पड़ता। भाषा की किताब में चाहे हिन्दी की हो या अंग्रेजी की, हम किसी महान लेखक की मदद से ऐसा कर पाते हैं। सामाजिक ज्ञान में फर्क ही यह है कि हम पहले से उपलब्ध साहित्यकार की कृति का उपयोग करने की जगह सीधे-सीधे अवधारणाओं से टकराते हैं। अवधारणाओं को ग्राह्य बनाने के लिए समाज में उपलब्ध उन अनुभवों को खोजते हैं जिन अनुभवों से उन अवधारणाओं में निहित चुनौतियां, अंतर्विरोध, कशमकश, संघर्ष सामने आएंगे। मान लीजिए, कोई कानून है जिसके बारे में पढ़ाना है या संसद या पंचायती राज के बारे में पढ़ाना है तो हमें संदर्भों और प्रसंगों की जरूरत पड़ती है। अखबार या किसी घटना की मदद से प्रसंगों को उजागर कर पाते हैं। ये मसला इतना आसान नहीं है कि नगरपालिका का काम है सफाई करना लेकिन सफाई किस मोहल्ले में रहती है, किस में नहीं रहती यह एक वर्गीय मसला भी है। सफाई कौन करता है, उसकी आर्थिक स्थिति क्या है, सफाई न होने पर किसको क्या नुकसान होता है; इसका भी एक समाजशास्त्र है। ये सब चीजें हम घटनाओं और सूचनाओं की मदद से जो हमें किसी न किसी रूप में आसपास उपलब्ध थीं उन्हें हम नई पुस्तकों में दे पाए हैं। यहां कोई साहित्यकार हमारी मदद के लिए नहीं आ सकता। सामाजिक विषयों में हम मुद्दे को अभ्यासों या चित्रों की मदद से छेड़ पाते हैं।

प्रश्न : इसका मतलब है कि यह एक चुनौती है कि सामाजिक विज्ञान की पुस्तकों में हम निरंतर अपने देश और समाज के अंतर्विरोधों से उलझ रहे होते हैं।

उत्तर : जी हां, अंतर्विरोधों से और उसके साथ-साथ इस इच्छाशक्ति से कि वह इन अंतर्विरोधों के पार जाना चाहता है। आखिर लोकतंत्र क्या है? अंतर्विरोधों के पार जाने का एक अरमान है, अभिप्सा है देश बनाने की। संविधान के पहले ही शब्द देखिए कि 'हम भारत के लोग' मिल-जुलकर एक ऐसा अरमान व्यक्त करते हैं। इस दृष्टिकोण से देखें तो अंतर्विरोधों को जानना भी एक समरस दुनिया और सामंजस्यपूर्ण समाज बनाने का एक साधन है जिसमें लोग एक-दूसरे की बात समझना शुरू कर सकें और ऐसा विमर्श विकसित कर सकें जिसकी भाषा में इतनी गहराई हो कि वह तीखे से तीखे अंतर्विरोध को भी भाषा और शब्दों में तब्दील कर सके। आप जानती हैं कि जब भाषा चूकती है और शब्द चूक जाते हैं तभी शस्त्र उठते हैं। अगर भाषा काम करने लगे और अपना पूरा काम करती चली जाए तो समाज की हिंसा बहुत घट जाएगी। इसलिए शिक्षा को शांति का माध्यम मानना उचित

है क्योंकि शिक्षा भाषा का ही काम है। जिस दिन शिक्षक भाषा से अपने बच्चों को नहीं समझा पाता उसी दिन उनको मारता या डांटता है।

प्रश्न : लोकतंत्र की भावना और उसमें निहित प्रक्रियाओं की चर्चा से यह स्थापित हुआ कि समाज के अंतर्विरोध बच्चों के सामने यथार्थ रूप में प्रस्तुत होने चाहिएं जिससे वे एक जीवंत समझ विकसित कर पाएं। अब अगर हम वापस उसी बिंदु पर आएं जहां से हमने चर्चा शुरू की थी तो क्या ऐसे देश हैं जो स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों से अपने समाज के अंतर्विरोधों पर चर्चा बहुत सफलता से कर पाए हैं?

उत्तर : यह बड़ा भारी प्रश्न आपने पूछा है और इसकी तह में जाने के लिए आपको उस झिझक पर विचार करना चाहिए जो कि वयस्कों में अपने बारे में बच्चों को बताने को लेकर होती है। एक पिता सिगरेट पीता है। बच्चे से कहता है तुम सिगरेट कभी मत पीना क्योंकि बहुत बुरी चीज है। हम जानते हैं कि जब बाप सिगरेट पी रहा हो तो बच्चे पर इस तरह की हिदायत का बहुत असर नहीं पड़ेगा। अगर इस दृष्टान्त में हम चाहते हैं कि बच्चे पर कोई असर पड़े तो यह प्रयास तभी सफल हो सकता है जब वह पिता अपने बच्चे से ऐसा संवाद स्थापित कर सके जिसमें बच्चा यह समझे कि मेरे पिता चाह कर सिगरेट नहीं पीते। सिगरेट एक लत है जो दुर्भाग्यवश उनको लग गई। वह भी परेशान हैं और अपनी परेशानी को वह अपने बच्चे से बांट रहे हैं। तब जाकर एक विश्वसनीयता का आधार पैदा होता है जिसकी मदद से बच्चा शायद इस बात को समझे। अब इस दृष्टांत को अगर आप बड़े पैमाने पर फैला दें तो आप देखेंगे कि कौनसा देश है जिसके इतिहास में अंतर्विरोध नहीं छिपे हैं?

किसी भी देश में अपनी नई पीढ़ी को सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक यथार्थ को बता सकने की क्षमता उस देश की राजनैतिक परिपक्वता का संकेत ही नहीं है, उसकी एक कसौटी है।

मनुष्य का इतिहास अंतर्विरोधों का ही इतिहास है। सब तरह की घटनाएं होती हैं। जर्मनी जैसे विकसित देश ने आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व ही दुनिया के सबसे बड़े नरसंहार का काम किया। कितने लाख, दसियों लाख यहूदियों को मार डाला जिसको हम होलोकास्ट कहते हैं। आज आप जर्मनी की पाठ्यचर्या देखें, वहां की पाठ्य-सामग्री देखें तो आप पाएंगे कि जर्मनी जैसे देश में इतनी बौद्धिक परिपक्वता है कि वह अपने छोटे से छोटे बच्चे को भी यह बताना चाहता है कि हमारे देश में क्या हुआ। न केवल पाठ्यपुस्तक में लिखकर, बल्कि उन स्थानों पर ले जाकर जहां नरसंहार हुआ। इसका उद्देश्य यही होता है कि आज का जर्मन बच्चा किसी और अविश्वसनीय स्रोत से यह न जाने कि हमारे देश में क्या हुआ बल्कि एक विश्वसनीय स्रोत से जाने। यह बहस वहां प्राथमिक कक्षाओं से शुरू हो जाती है। दरअसल, अगर आप बाहर से जर्मनी जा रहे हैं तो आपको आश्चर्य होता है, आप पूछते हैं कि भई इतने छोटे बच्चे को बताने की क्या जरूरत है? आप इसको उच्च माध्यमिक स्तर पर ले लेते लेकिन वे आपसे कहते हैं नहीं, ये हमारे मानस के ऊपर इतना बड़ा बोझ है कि हम सोचते हैं कि बच्चे इसको बचपन से ही ग्रहण करना शुरू करेंगे तब जाकर वे किशोरावस्था या युवावस्था तक आते-आते एक सामान्य नागरिक बन सकेंगे। वे कहते हैं कि इतना बड़ा कलंक जर्मनी के ऊपर लगा फिर भी वे आगे बढ़ सके और आगे बढ़ सकते हैं।

इस तरह का एक बड़ा और गंभीर उदाहरण मैंने इसीलिए आपको दिया जिससे आप ये समझ सकें कि दरअसल किसी भी देश में अपनी नई पीढ़ी को सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक यथार्थ को बता सकने की क्षमता उस देश की राजनैतिक परिपक्वता का संकेत ही नहीं है, उसकी एक कसौटी है। दरअसल, यह जो पूरा विषय है राजनीति विज्ञान, इसकी पुस्तकों की सबसे बड़ी प्रशंसा हम लोगों

को भारत की आजादी की साठवीं सालगिरह पर मिली। उस पन्द्रह अगस्त को न्यूयार्क टाइम्स ने अपने मुख पृष्ठ के सबसे ऊपर की लाइन दी थी कि 'भारत आज साठ का हुआ एक नई तरह की शिक्षा का जन्म हुआ'। संस्कृति स्कूल में राजनीति शास्त्र की ही एक कक्षा में जाकर न्यूयार्क टाइम्स की एक संवाददाता ने यह जानकारी एकत्र की थी कि बच्चे किस तरह लोकतंत्र और राजनीति के तमाम संघर्षों के अंतर्विरोधों का अध्ययन कर रहे हैं। उस रिपोर्ट में लिखा हुआ था कि यह भारत के लोकतंत्र की परिपक्वता का संकेत है। उसके बगल में ही कहीं इस बात की खबर थी कि पाकिस्तान में संविधान लागू रहने में कितनी बाधाएं आ रही हैं और साठवीं वर्षगांठ के अवसर पर वहां एक तरह का उदासी का वातावरण था। बड़ा स्पष्ट था कि भारत की सबसे बड़ी सफलता ही यह है कि आज वह इतना परिपक्व लोकतंत्र है कि अपने बच्चों से भी खुलकर बात कर सकता है। उसके पास कुछ छिपाने को नहीं है और उसको यह भरोसा है कि हमारे बच्चे जब ये सब जानेंगे तो वे और आगे बढ़ेंगे।

प्रश्न : हमने लोकतंत्र और किशोर मन के बारे में जो चर्चा की है इसमें एक समाजशास्त्रीय पहलू यह भी है कि हमारी कक्षाओं में भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चे हैं। घर में होने वाले समाजीकरण से वे अलग-अलग तरह के मूल्य और व्यवहार सीखते हैं और उनकी सामूहिक अस्मिता के मुद्दे भी अलग होते हैं। समाजीकरण की विविधाता पर इन किताबों का क्या दृष्टिकोण है?

उत्तर : ये किताबें अपने को बच्चों के ऊपर थोपती नहीं हैं, और ना ही इनमें उस तरह की सामग्री है जिसे अध्यापक बच्चों पर थोप सके। स्कूल ऐसी जगह है जहां हमें अपने समाजीकरण पर सोचने का मौका मिलता है। समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका सबसे गहन पक्ष जीवन के आरंभिक वर्षों यानी शैशव काल में पूरा हो लेता है जब मनुष्य का अपने अनुभवों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। उस उम्र में ऐसी स्थिति नहीं होती कि मनुष्य उन अनुभवों से अपने को बचा सके या उन अनुभवों को कोई आकार दे सके। समाजीकरण की दृष्टि से वही सबसे वजनी साल हैं। हमारे बुनियादी मूल्यों, अभिवृत्तियों एवं रवैए का विकास उस उम्र में हो चुकता है। जीवन के शुरुआती वर्षों में ही मनुष्य सामाजिक संबंधों से संबंधित भूमिकाओं में पिरो दिया जाता है। शैशव काल की इस गढ़न पर विचार करने का एक मौका स्कूल देता है। उस विचार को गहरा सकने का मौका ये नई किताबें देती हैं। ये किताबें तरह-तरह के सवाल उठाती हैं और उसके लिए अनुभवों को एक प्रसंग के रूप में इस्तेमाल करती हैं जिससे हर बच्चा उन अनुभवों को अपने जीवन में टटोल सके। इसे संभव बनाना शिक्षक के लिए जरूरी है कि हर बच्चे को इस तरह अपने बारे में विचार करते समय कोई संकोच न महसूस हो चाहे वह किसी भी पृष्ठभूमि का हो। बच्चे को यह न लगे कि दूसरे मुझ पर हंसेंगे। स्कूल का जो पारंपरिक रूप से दबा हुआ सा जीवन रहा है, उसको खोलने के लिए ये किताबें अवसर देती हैं। किंतु यह अवसर शिक्षक के स्नेह पर, उसकी संजीदगी पर और सबके प्रति उसकी सम दृष्टि पर निर्भर करता है। खासकर जब आप बड़ी कक्षाओं की बात कर रहे हैं, जब बच्चे किशोर हो जाते हैं उस समय तो यह भूमिका और भी आवश्यक है। हर तरह का अनुभव, भाव या विचार जो अपने परिवार, माता-पिता, देश या समाज को लेकर एक किशोर के मन में उठता है उसको ध्यान से सुनने और बर्दाश्त करने की क्षमता शिक्षक में हो, तब इन पुस्तकों का पूरा लाभ उठाया जा सकता है। सर्व शिक्षा अभियान का उद्देश्य रहा है कि हर पृष्ठभूमि का बच्चा हमारी कक्षा में आए। शिक्षा इस अर्थ में सार्वभौमिक बने कि वह सार्वजनिक हो यानी हरेक बच्चा खुले माहौल में जीने के लिए स्वतंत्र हो। भय से मुक्ति का आश्वासन शिक्षा देती है। इस तरह से शिक्षा का लक्ष्य है आत्म का और आत्म-बोध का विकास करना। ये इन किताबों के जरिए हर विषय में संभव हो सकता है। हमारे देश की विविधता का पूरा लाभ एक शिक्षक उठा सकता है।

प्रश्न : एक तरफ इन पाठ्यपुस्तकों में इस बात पर जोर है कि बच्चों को उन रूढ़ीबद्ध धारणाओं से अवगत करवाया जाए जो हमारे समाज में कई समूहों के बारे में फैली हुई हैं। कोशिश की गई है कि बच्चे पहचानें कि ऐसी धारणाएं कैसे बनती हैं और लोग कैसे उन्हें मन में पाले रहते हैं। दूसरी तरफ जिन समूहों के बारे में ये धारणाएं व्याप्त हैं उनको अलग करके उनके संघर्षों के बारे में चर्चा की गई है। यह एक बहुत ही नाजुक शिक्षाशास्त्रीय डोर है कि एक तरफ तो हम चाहते हैं कि बच्चे ऐसी धारणाओं से उबरें और दूसरी तरफ हम किताबों में खुद लिखते हैं कि लोग ऐसा सोचते हैं और ऐसा करते समय हम कुछ लोगों को श्रेणीबद्ध करते हैं। इन किताबों में यह संतुलन कैसे बिठाया गया है?

उत्तर : इस मुद्दे पर बात करने के लिए डोर बहुत अच्छा रूपक है। डोर के एक सिरे पर पुरानी प्रवृत्ति है कि हम बिल्कुल चर्चा ही न करें। भारत जैसे समाज की जाति व्यवस्था जग जाहिर है, पर हम उसका जिक्र ही न करें; पुरानी किताबों में ऐसा मत झलकता था कि एक तरफ स्कूल का जीवन होता था और दूसरा हमारा असली जीवन होता था। जीवन के कई अनुभवों को जाति के दायरे में जिया जाता है; लेकिन स्कूल में इसकी चर्चा नहीं होती थी। दूसरी तरफ डोर का यह सिरा है कि भारत की विविधता को एक नारे से आगे ले जाएं और समता एवं सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के दायरे में रहते हुए विविधता का अध्ययन करें। उस दायरे में रहने का अर्थ ही है कि हम उन समूहों को पहचानने की स्थिति में हों जो सामाजिक न्याय हासिल करने में बाधा महसूस करते हैं। यह एक अतिवाद होगा कि हम उनको एकदम गायब कर दें। ऐसा करना भी एक भूल होगी। उनके मुद्दों को स्थान दें तो कई लोगों को लगता है कि जैसे उनको अलग खड़ा कर रहे हैं। नई पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों में इन दोनों के बीच में एक जगह तलाशी गई है कि आज के समय में उनकी सामूहिकता से उभरने वाली समस्याओं को पहचानें। इस बात के लिए हरेक बच्चे को तैयार करें कि मूलतः हर जाति और धर्म के इंसान में एक 'व्यक्ति' है। व्यक्तिगत पहचान ही लोकतंत्र की इकाई है और वह सामूहिक अस्मिता में खो नहीं जानी चाहिए। हालांकि यह भी सच्चाई है कि बहुत लोगों की व्यक्तिगत अस्मिता सामाजिक नियति की शिकार है और उससे उबरने के लिए रास्ता पतला-सा है, एक डोर जैसा। इस रास्ते से गुजरकर शिक्षा एक ऐसे समाज की रचना में योगदान दे सकती है जहां हर इंसान की व्यक्तिगत अस्मिता का विकास हो सके और उसकी सामूहिक अस्मिता सुरक्षित महसूस कर सके।

प्रश्न : अगर एक विद्यार्थी कोई पाठ्य-सामग्री पढ़ते हुए विचलित महसूस करे तो उसकी भावनाओं को सहेज पाने की और उन्हें बड़ा परिदृश्य दिखा पाने की किसकी जिम्मेदारी है?

उत्तर : अव्वल तो मुझे नहीं लगता कि इन पुस्तकों में कोई सामग्री ऐसी है जिससे किसी की सामूहिक अस्मिता को चोट पहुंच सके। इस बात का बहुत गहरा ध्यान राष्ट्रीय निगरानी समिति ने रखा है। इस समिति को बनाने की अनुशंसा केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल की उस बैठक में की गई थी जिसमें राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा को सितंबर 2005 में अंतिम स्वीकृति दी गई। मानव संसधान मंत्रालय ने समिति का गठन किया था। इस समिति के अध्यक्ष थे प्रोफेसर मृणाल मिरि और संयुक्त अध्यक्ष थे प्रोफेसर जी. पी. देशपांडे। यह समिति बहुत बड़ी थी। इसमें हर विषय के विशेषज्ञ थे। केब के प्रतिनिधि और कई राज्यों के शिक्षा सचिव थे। इसमें मीडिया से जुड़े लोग और गैर-सरकारी संगठनों के प्रतिनिधि और स्कूली शिक्षक थे। इस समिति ने हर पाठ्यपुस्तक के हरेक पाठ के प्रारूप को एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य और एक-एक चित्र के स्तर पर देखा और सुधार के लिए अनेकों सुझाव दिए। समिति ने उन सुझावों को शामिल भी करवाया। उसके पास यह ताकत थी। पुस्तक का हरेक अंश जब इस समिति द्वारा स्वीकृत हो गया उसके बाद ही प्रकाशन के लिए उसे भेजा गया।

जहां तक इन पुस्तकों के किसी अंश से किसी की भावनाओं को चोट पहुंचने की बात है, तो यह संभव

नहीं लगता। लेकिन समय ऐसा चल रहा है और अस्मिताओं की राजनीति की जा रही है। बहुत से लोग इसको उत्तर-आधुनिकता से जोड़ते हुए कहते हैं कि प्रतिनिधित्व की राजनीति है जिसमें अस्मिता एक मुद्दा है। इन सबके कारण हो सकता है कि ऐसी स्थिति आ जाए कि किसी की भावना आहत महसूस करे तो ऐसे में जहां तक पुस्तक का सवाल है तो दो बातें हैं। पहले तो पुस्तक यह दावा नहीं करती कि वह एकमात्र संसाधन है। इस पुस्तक को लगाने वालों का जिम्मा है कि इसे एकमात्र किताब की तरह न इस्तेमाल करें। किताब में ही अनेक स्रोत दिए गए हैं जिनमें से कई तो स्वयं राष्ट्रीय परिषद् ने प्रकाशित किए हैं और कई बाहरी हैं। इन पुस्तकों के पाठों में कई तरह की बाहरी सामग्री का हवाला है जिसकी मदद से शिक्षक संवेदनशील मुद्दों पर चर्चा कर सकते हैं और वह भी पर्याप्त न लगे तो अन्य सामग्री जुटा सकते हैं। आज की शिक्षा नीति और इन पुस्तकों के अनुसार शिक्षक का काम है कि बच्चे की बौद्धिक और भावनात्मक जरूरतों को पूरा करने के लिए पूरी जिम्मेदारी से कक्षा के स्तर पर पाठ्यचर्या बनाए। सर्व शिक्षा अभियान के बाद यह संभव नहीं रह गया कि किसी बच्चे को कक्षा में रखें और किसी को न रखें। हरेक तरह की पृष्ठभूमि के बच्चे को कक्षा में आना है तो शिक्षा की जिम्मेदारी है कि कक्षा को भारत के लोकतंत्र का प्रतिबिम्ब बनाए। इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए ही ये पुस्तकें बनाई गई हैं जो कहानियों, दृष्टांतों, चित्रों, व्यंग्य चित्रों के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिनके आधार पर शिक्षक और बच्चे स्वयं कई और ऐसे उदाहरण रच सकें। यह जो बात है कि किसी को बुरा लग सकता है, इसको भी पूरी कक्षा समझ सके कि किसी को बुरा क्यों लगा। बुरा लगने की स्थिति में हम उसके साथ हों जिससे वह अपनी भावना से उबर सके और एक तरह का सहभाव महसूस कर सके। किसी 'दूसरे' के नजरिए को समझने, उससे तादात्मय बिठाने के अभ्यास के बतौर इन पुस्तकों में कई तरह के पाठ शामिल किए गए हैं। बच्चे पात्रों की जिंदगी में प्रवेश करके अपने से भिन्न दुनिया का नजारा देख सकते हैं। जैसे कि, 'आलो अंधारि' की कहानी के अंश में बच्चे यह महसूस कर पाते हैं कि गांव से शहर आई हुई उत्पीड़ित और उपेक्षित नौकरानी के दृष्टिकोण से अगर दुनिया को रचें तो कैसी दिखेगी।

अपने से भिन्न से तादात्मय स्थापित कर सकना और उसकी परेशानी को महसूस करना और फिर अपने मन में इतनी जगह बना सकना कि हम उसके दृष्टिकोण से सोच सकें, ऐसे उद्देश्य नई पाठ्यपुस्तकों में समाहित किए गए हैं। यह एक क्रांतिकारी कोशिश है। आधुनिकता का वह दौर जैसे चुक गया है जिसमें अस्मिता की कोई कद्र ही नहीं थी। नारीवादी आंदोलन की वजह से आज हम जानते हैं कि स्त्री के विकास के लिए अस्मिता एक बहुत बड़ा मुद्दा है। इसी तरह से नस्लवाद विरोधी आंदोलन की वजह से यह बात पहचानी जाती है कि जब अलग-अलग संस्कृतियों के लोग एक-दूसरे के करीब आते हैं तो हमारी व्यक्तिगत पहचान पर सामूहिक अस्मिता की आंच भी आती है। इसलिए शिक्षा में यह समझने का मौका दिया जाना आवश्यक है कि किसी अन्य के दृष्टिकोण से कैसा लगता है। दुनिया के जो विकसित देश कहे जाते हैं, जहां माना जाता था कि ये समस्याएं हल हो चुकी हैं, वे भी आज भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक अस्मिताओं के मुद्दों से जूझ रहे हैं इसलिए ब्रिटेन, अमरीका एवं फ्रांस जैसे देशों में बहु-संस्कृतिवाद शिक्षा नीति का हिस्सा बन चुका है। भारत तो हमेशा से विविधताओं में जीता रहा है, अब वह सचेत होकर जीना सीखेगा क्योंकि लोकतंत्र का इतना विकास हो चुका है कि आज हम केवल सरकारी तंत्र और नीति के जरिए विविधता की दुहाई नहीं दे सकते। आज लोकतंत्र को एक जीवन शैली बनाने की चुनौती है। इसलिए 2005 की पाठ्यचर्या और किताबें बहुत समकालीन हैं व हमारे समय की चुनौती से सीधे-सीधे जूझने का प्रयास हैं। ◆